3

'हम यहाँ थे': आदिवासी विमर्श का साहित्यिक प्रतिरोध

*नीलम गर्ग**

मधु कांकरिया द्वारा रचित उपन्यास 'हम यहाँ थे' आदिवासी समाज के जीवन-संघर्ष, अस्मिता और प्रतिरोध की सशक्त अभिव्यक्ति है। लेखिका ने प्रस्तुत कृति में आदिवासियों के भूमि, जंगल एवं जल से बेदखली, सांस्कृतिक पहचान के क्षरण, विस्थापन, अशिक्षा, आर्थिक शोषण तथा माओवादी हिंसा जैसे गहरे सामाजिक संकटों को उजागर किया है। उपन्यास में चित्रित आदिवासी स्त्री शोषण की शिकार होते हुए भी संघर्ष की अगुआ बनती है। दीपशिखा एवं फुलवा जैसी स्त्रियाँ आदिवासी चेतना का प्रतीक हैं, जो अन्याय के विरुद्ध डटकर खड़ी होती हैं। लेखिका ने बखूबी दर्शाया है कि हिंसा या नक्सलवाद नहीं, बल्कि शिक्षा, संगठन एवं सांस्कृतिक चेतना ही वास्तविक मुक्ति का मार्ग है। यह उपन्यास न केवल आदिवासी जीवन की यथार्थता को प्रस्तुत करता है, बल्कि यह भी सिद्ध करता है कि साहित्य समाज में प्रतिरोध एवं परिवर्तन का प्रभावी माध्यम बन सकता है। इस प्रकार 'हम यहाँ थे' आदिवासी विमर्श के केन्द्र में अस्मिता, न्याय एवं आत्मसम्मान की पुनर्स्थापना का दस्तावेज बनकर उभरता है।

[**प्रमुख शब्द :** आदिवासी विमर्श, प्रतिरोध, विस्थापन, भूमि संघर्ष, जंगल से बेदखली, सांस्कृतिक पहचान, माओवादी हिंसा, नक्सली।]

हाशिये पर जी रहे वर्गों की व्यथा को हिन्दी साहित्य में सदैव से अभिव्यक्ति मिली है। यह अभिव्यक्ति पिछले कई वर्षों से विमर्श का रूप ले चुकी है; जैसे स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, किन्नर विमर्श आदि। इन विमर्शों में 21वीं सदी में आदिवासी विमर्श विशेष रूप से उल्लेखनीय

* **प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, शम्भु दयाल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)।**

है। भारतीय आदिवासी समुदाय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अत्यन्त प्राचीन है। प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की भावना के साथ जीने वाला यह समुदाय न केवल सदियों से सत्ता, संस्कृति और समाज की मुख्यधारा से बहिष्कृत रहा है, वरन् साहित्यिक विमर्श में भी लम्बे समय तक उपेक्षित होता रहा। परन्तु वर्तमान में अनेक रचनाकारों ने अपने साहित्य में आदिवासी विमर्श को स्वर देते हुए आदिवासी जीवन की जटिलताओं, संघर्षों और उनके अस्तित्व की लड़ाई को अत्यन्त संवेदनशीलता के साथ उकेरा है। वस्तुतः आदिवासी विमर्श का मूल उद्देश्य ही आदिवासियों की ऐतिहासिक हाशियाकरण (सीमान्तीकरण) की प्रक्रिया को उजागर करना और उनके संघर्ष, आत्मबल एवं सांस्कृतिक जीवटता को साहित्यिक स्वर प्रदान करना है। आदिवासी विमर्श साहित्य की उस चेतना को सामने लाता है जहाँ आदिवासी केवल पीड़ित नहीं, बल्कि संघर्षरत एवं जागरूक सामाजिक इकाई बनकर उभरते हैं।

मधु कांकरिया द्वारा रचित उपन्यास 'हम यहाँ थे' इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से उपजा हुआ उपन्यास है, जो आदिवासी समाज के अस्तित्व संकट, विस्थापन, अशिक्षा, शोषण और सांस्कृतिक विघटन की जीवन्त दास्तान है। यह उपन्यास झारखण्ड के आदिवासी अंचलों विशेषकर गुमला, पलामू, सिमडेगा और लोहरदगा की यात्रा का साहित्यिक प्रतिफल है जहाँ लेखिका ने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कथा को सँवारा है। यह केवल एक कथा नहीं वरन् उन अनसुनी आवाजों की पुकार है जो मुख्यधाराओं की राजनीति, विकास एवं पूँजीवाद की अन्धी दौड़ में कुचल दी जाती हैं। यह उपन्यास हमें यह सोचने पर बाध्य करता है कि क्या विकास की अवधारणा वास्तव में सर्वसमावेशी है? क्या आदिवासियों के बिना भारत की आधुनिकता का निर्माण सम्भव है? 'हम यहाँ थे' इन्हीं सवालों से टकराता है और एक सशक्त वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो न केवल साहित्य वरन् इतिहास, राजनीति और समाज का पुनर्पाठ है।

प्रस्तुत शोधपत्र में हमने 'हम यहाँ थे' उपन्यास में आदिवासी जीवन-बोध, संघर्ष, विस्थापन, सांस्कृतिक विघटन और प्रतिरोध को देखने का अल्प प्रयास किया है। शोध प्रविधि की दृष्टि से यहाँ हमने अन्तर्वस्तु विश्लेषण पद्धति का चयन किया है। अध्ययन की सुविधा हेतु हमने इसे निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया है—

1. भूमि एवं जंगल से बेदखली का प्रतिरोध

भारतीय आदिवासी समुदायों का जीवन जंगल एवं जमीन से गहरे जुड़ा हुआ है। यही उनकी जीविका का साधन है और यही उनकी संस्कृति एवं अस्तित्व का मूल आधार है। उनके लिए जंगल केवल संसाधन नहीं वरन् सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन की आत्मा हैं। लेकिन वर्तमान में औपनिवेशिक शोषण, वन कानूनों, भूमि अधिग्रहण एवं तथाकथित विकास की प्रक्रिया ने इन्हें जंगल एवं भूमि से बेदखल कर दिया है, जो इनके जीवन की सबसे गहरी त्रासदी है। इसी त्रासदी पर प्रकाश डालते हुए आदिवासी चिन्तक गंगा सहाय मीणा अपनी पुस्तक 'आदिवासी और हिन्दी उपन्यास' में लिखते हैं—''आदिवासियों का अपना सामाजिक ढाँचा था। गैर आदिवासियों ने जंगलों और पहाड़ों में आर्थिक संसाधनों के दोहन के लिए घुसपैठ शुरु कर

दी। यह सिलसिला तब से लगातार चल रहा है। आर्थिक उदारीकरण के बाद पिछले दो दशकों में इसकी प्रक्रिया और तेज हुई है।''[1]

'हम यहाँ थे' उपन्यास में लेखिका मधु कांकरिया ने भूमि एवं जंगलों से आदिवासियों की बेदखली का यथार्थ चित्रण किया है। प्रस्तुत उपन्यास में यह विषय केवल सामाजिक अन्याय नहीं, बल्कि अस्तित्व संकट के रूप में सामने आता है। लेखिका ने बहुत सूक्ष्मता से चित्रित किया है कि जंगल आदिवासियों के लिए सिर्फ जीविका नहीं, उनकी आत्मा था। जंगल उनके लिए सिर्फ जमीन का टुकड़ा नहीं था, वह उनकी रगों में बहता था। जंगल उनका घर, देवस्थान एवं रोजमर्रा की जीवन-व्यवस्था का मूल आधार है। ''आदिवासी साफ कहते हैं कि जब तक पहाड़ हैं हमारा अस्तित्व और अस्मिता दोनों बचे हुए हैं। ..... हमारे लिए धरती, जंगल, पहाड़ कभी लालच पूरा करने के स्रोत की तरह नहीं रहे। हम उन्हें अपने अस्तित्व की रक्षा में सहायक मानते हैं इसलिए उन्हें नष्ट करने की सोच भी नहीं सकते हैं। इन जंगलों से, पहाड़ों से हमारा वो ही नाता है जो माटी से कुम्हार का, जो लकड़ी से बढ़ई का, जो फसलों से किसान का।''[2] लेखिका ने यह भी स्पष्ट किया है कि जमीन उनके लिए केवल संसाधन नहीं, माँ के समान है, जिसका छिन जाना आत्महत्या जैसा है। भूमि को माँ मानने वाले आदिवासी समाज का भूमि एवं प्रकृति से अभिन्न जुड़ाव होता है। लेखिका उपन्यास में इन शब्दों में इस जुड़ाव को प्रकट करती है— ''हम प्रकृति को माँ मानते हैं, हम प्रकृति का दोहन नहीं करते, उससे उतना ही लेते हैं कि हमारा गुजरभर हो जाये। हम तो फिर भी अब खेती पर आ गए हैं, लेकिन फिर भी हम हल चलाने से पहले धरती से माफी माँगते हैं कि उसका सीना चीर रहे हैं। और कुछ आदिम जनजातियाँ तो खेती तक नहीं करतीं कि हल चलाने से धरती माँ का सीना चाक हो जायेगा और उन्हें तकलीफ होगी।''[3]

उपन्यास में लेखिका बार-बार यह उजागर करती है कि आदिवासियों से उनकी जमीन एवं जंगल सुनियोजित ढंग से छीने जा रहे हैं। प्रस्तुत उदाहरण इस सुलगते सत्य से साक्षात्कार कराता है—''जमीन जो आदिवासियों के लिए धरती माँ थी, भूमाफिया और कॉरपोरेट्स के लिए सोने की मुर्गी। इसी जमीन ने आदिवासियों को खून के आँसू रुलाए, उनकी महिलाओं का बलात्कार करवाया, उनके घरों को तबाह किया और उन्हें पलायन करने पर मजबूर कर मजदूर बना ईंट, गारा, पत्थर ढोने को मजबूर किया। यह सब सुनियोजित ढंग से चल रहा था।''[4] दीपशिखा, जंगलकुमार एवं धरती रक्षावाहिनी के नेतृत्व में आदिवासी संगठित होकर जमीन बचाने के लिए खड़े होते हैं परन्तु पुलिस, प्रशासन एवं कम्पनियों की मिलीभगत से उन्हें हिंसा, गिरफ्तारी एवं उत्पीड़न झेलना पड़ता है। इस तरह, प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने कुशलता से उजागर किया है कि यह लोकतान्त्रिक ढाँचे की असफलता का प्रतीक है, जहाँ 'विकास' केवल एकपक्षीय हो गया है।

2. सांस्कृतिक अस्मिता एवं उसकी रक्षा

परम्परा एवं रीतिरिवाज आदिवासियों के जीवन का मूल आधार हैं। उनकी लोक संस्कृति ही उनकी सबसे बड़ी समृद्धि है, जिसे वे विषम से विषमतम परिस्तिथियों में भी जीवन्त बनाये हुए हैं। उनकी सांस्कृतिक अस्मिता केवल गीत, नृत्य, त्यौहार या पहनावे तक ही सीमित नहीं है,

बल्कि यह उनकी आध्यात्मिक चेतना, परम्परागत ज्ञान एवं सामुदायिक संरचना से भी गहनता से जुड़ी होती है। मधु कांकरिया ने अपने उपन्यास 'हम यहाँ थे' में इस अस्मिता पर लगातार होने वाले हमलों एवं उसके विरुद्ध आदिवासियों द्वारा किए जा रहे प्रतिरोध को गहरी संवेदना और यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया है।

आदिवासी सांस्कृतिक अस्मिता का केन्द्र लोककथाएँ, गीत, देवता, नृत्य एवं सामूहिक जीवन शैली है। उपन्यास में लेखिका ने कुशलता से दर्शाया है कि कैसे आदिवासी समाज हर पर्व पर सामूहिक नृत्य करता है। करमा, सरहुल एवं मागे पर्व जैसे उत्सवों में पूरा गाँव एकत्र होकर देवताओं की पूजा करता है। इन पर्वों पर प्रकृति, ऋतु एवं सामाजिक बन्धनों का सौन्दर्य समाहित होता है। लेखिका ने इन चित्रों के माध्यम से रूपायित किया है कि जब आदिवासी इन पर्वों को मनाते हैं, तब वे ये स्पष्ट घोषित करते हैं कि वे अब भी जीवित हैं अपनी परम्पराओं एवं पहचान के साथ। एक उदाहरण दृष्टव्य है—''गले में लटके मांदल पर एक पुरुष थाप दे रहा था और उसको घेरे सात स्त्रियाँ एक-दूसरे को कमर से पकड़े गोल-गोल घेरा बनाकर नृत्य कर रही थीं। न कोई साज, न श्रृंगार।.....एक स्त्री पीठ पर कपड़े से बच्चे को बाँधकर नृत्य कर रही थी। पहली बार मैं महसूस कर रही थी—जिन्दगी और नृत्य की साझेदारी, जिन्दगी, संघर्ष और राग की रिश्तेदारी।.....।''[5]

दीपशिखा का उपर्युक्त कथन आदिवासी सांस्कृतिक अस्मिता की जीवन्तता को सजीवता से दर्शाता है। यहाँ लेखिका ने यह भी कुशलता से चित्रित किया है कि इस अस्मिता की धारक और रक्षक आदिवासी महिलाएँ हैं, जो अपने लोकगीतों, लोककथाओं, पर्वों एवं लोक देवताओं को नई पीढ़ी तक पहुँचाती हैं। परन्तु जब आदिवासियों की संस्कृति पर सीधा हमला किया जाता है, उन्हें गैर-सभ्य, पिछड़े या अनपढ़ कहकर उनकी परम्पराओं को तिरस्कृत किया जाता है, उनकी लोककलाओं, रीतिरिवाजों को हाशिये पर धकेला जाता है, तो संघर्ष की स्थिति आ खड़ी होती है। लेखिका ने बखूबी चित्रित किया है कि शहरों से आये ठेकेदारों, खनन कम्पनियों, ईसाई मिशनरियों द्वारा इन सांस्कृतिक प्रतीकों को नष्ट किया जाता है, जो उनकी आत्मा पर प्रहार बन जाता है—''मिशनरियों ने पानी से भरी एक परात में पहले हमारे कुछ देवी-देवताओं को डाला, साथ में ही प्रभु यीशु की एक मूरत भी डाली। हमारे देवी-देवता डूब गए जबकि प्रभु यीशु की मूरत शान से तैरती रही। उन्होंने आदिवासियों से कहा—'देखो तुम्हारे भगवान खुद को ही नहीं बचा पा रहे तो तुम्हें क्या बचाएँगे।' दरअसल हमारे देवी-देवता भारी थे, भीतर धातु भरी हुई थी जबकि यीशु की मूरत काठ की थी। भोले आदिवासी इसे समझ नहीं पाए और चमत्कृत होते रहे।''[6] यह दृश्य सांस्कृतिक विघटन का क्रूरतम रूप है, जहाँ उनकी धार्मिक मान्यताओं तक को मिटा दिया जाता है। लेखिका ने अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रित किया है कि ''इस भोले-भाले समुदाय को झांसा देना आसान है क्योंकि यहाँ बुद्धि की जगह भावना, वैयक्तिकता की जगह सामुदायिकता और दिमाग की जगह शरीर की प्राथमिकता है।''[7]

प्रस्तुत उपन्यास कुशलता से चित्रित करता है कि विकास के नाम पर जब आदिवासियों की पहचान और संस्कृति को मिटाया जाता है, तब वे भी सत्ता को स्पष्ट सन्देश दे देते हैं कि

''आपको हमारा विकास करना है तो हमारी प्रकृति, हमारी नदी, हमारे झरने, हमारे जंगल, हमारे मवेशी, हमारी आवाज, हमारी हंसी, हमारे परिवेश और हमारे लोकगीत को बचाते हुए हमारी सहायता कीजिये। किसका विकास? किसके लिए विकास? विकास लोगों का किया जाता है, जब आपके लिए हम लोग ही कुछ नहीं तो कैसा विकास?''[8]

3. विस्थापन एवं पहचान के संकट का प्रतिरोध

आदिवासी समाज का सबसे भीषण यथार्थ लगातार और योजनाबद्ध तरीके से किया जा रहा विस्थापन है। इस विस्थापन ने उन्हें केवल भौगोलिक रूप से ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, भाषिक और सामाजिक रूप से भी उखाड़ फेंकने का कार्य किया है। डॉ0 जनक सिंह मीणा और डॉ0 कुलदीप मीणा लिखते हैं कि ''सरकारें व स्थानीय प्रशासन आदिवासियों को उनके मूल स्थान से विकास के नाम पर जबरन विस्थापित करते हैं और पुनर्वास के नाम पर उनके साथ छल किया जाता है।..... विभिन्न नदी परियोजनाओं पर विशाल बाँध निर्माण करने का कार्य, जिसके तहत एक बड़ी जनसँख्या को अपने घर-परिवार, जमीन एवं जीविका के साधनों से वंचित होकर विस्थापन के लिए मजबूर होना पड़ा है।''[9]

प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने इस विस्थापन को पहचान एवं आत्मबोध के संकट के रूप में प्रस्तुत किया है। सरकार द्वारा बाँध परियोजना, खनन ठेकों और वन संरक्षण अधिनियम के नाम पर आदिवासियों को उनके पुश्तैनी गाँवों से उखाड़ा जा रहा है। उन्हें या तो शहर की झुग्गियों में भेजा जा रहा है या पुनर्वास शिविरों में। जहाँ न तो प्रकृति की गोद है, न खेती योग्य भूमि, न जंगल, न पानी, न ही स्थानीय रोजगार। पुनर्वास के नाम पर केवल एक भूगोल दिया गया है, जीवन नहीं। उपन्यास के प्रस्तुत कथन से यह सत्य पूर्णतः उद्घाटित होता है—''याद रखिये जब तक जमीन है, आस है और जब तक आस है, साँस है।.....हमारी जमीन हमारे लिए सिर्फ रोटी का जुगाड़ भर नहीं, हमारी कई-कई पीढ़ियों की स्मृतियों के दस्तावेज और हमारे माथे का मान भी है। हमारे सम्बन्धों की जड़ें इसी धरती में गहराती हैं, इससे हम उखड़ गए तो जिन्दगी से उखड़ जाएँगे।''[10] वस्तुतः विस्थापन एक आम आदिवासी की पहचान मिटने की व्यथा है, एक ऐसा संकट जो केवल व्यक्तिगत नहीं वरन् सामूहिक स्मृति का विसर्जन है, जिसे रचनाकार ने अत्यन्त मार्मिकता से चित्रित किया है।

उपन्यास में विस्थापन के खिलाफ फुलवा की 82 वर्षीय माँ सरकार से इन शब्दों में गुहार लगाती है—''जिन्दगी इन्हीं गुजार दिहा अब पराई जमीन पर न मरब। कुछ भी होई जाए अपने जीयतेब हम इ आपन घर न छोड़ब। आपन आदमी के हाथों लगावा जामुन और पीपर के पेड़ के नीचे मरब। पराए गाँव में न मरब।''[11] (जिन्दगी यहीं गुजारी, अब पराई जमीन पर नहीं मरूँगी। कुछ भी हो जाए, जीते-जी नहीं छोडूँगी अपना घर। पति और पुत्र के हाथों लगाए जामुन और पीपल के पेड़ के नीचे ही मरूँगी।) प्रस्तुत कथन सूक्ष्मता से स्पष्ट करता है कि विस्थापन केवल शरीर का विस्थापन नहीं होता, वह मन, आत्मा, इतिहास और जिन्दगी का ही विस्थापन होता है, जो उन्हें धीरे-धीरे अपने 'मैं' से दूर कर देता है। लेखिका ने यथार्थ रूप से चित्रित किया है कि आदिवासियों को उनके पारिस्थितिक तन्त्र से हटा तो दिया जाता है मगर उसके लिए कोई भी

स्थायी समाधान नहीं किया जाता, जिससे उनकी व्यथा गहराती जाती है। उपन्यास में लेखिका ने यह भी दर्शाया है कि जंगल कुमार उर्फ महेंद्र राय, दीपशिखा, भिखारी भगत, सहदेव मुण्डा, कार्तिक उरांव जैसे कुछ पात्र विस्थापन के संकट के विरुद्ध खड़े होते हैं और अपनी संस्कृति, भाषा और पर्वों को पुनः जीवित करने का प्रयास करते हैं, जिससे पहचान की पुनर्रचना की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सके।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने इस पीड़ा को केवल बयान ही नहीं किया, वरन् उसे एक साहित्यिक प्रतिरोध में बदल दिया है, जिससे उपन्यास केवल एक कथा नहीं रहता चेतावनी बन जाता है कि अगर हमने इस विस्थापन को नहीं रोका, तो हम न केवल एक समुदाय, बल्कि एक सम्पूर्ण सभ्यता को खो देंगे।

4. आदिवासी स्त्री की दोहरी त्रासदी एवं प्रतिरोध

आदिवासी समाज में स्त्रियाँ हमेशा से जीवन एवं संस्कृति के केन्द्र में रही हैं। वे खेतों में श्रम करती हैं, जंगल से लकड़ी, फल-फूल और औषधियाँ लाती हैं, लोकगीतों एवं नृत्य आदि के माध्यम से अपनी सांस्कृतिक धरोहर को जीवित रखती हैं। आदिवासी समाज में स्त्री को मुख्यधारा के समाज की तरह बाँधकर नहीं रखा जाता, उसे पुरुष के सामान ही स्वतन्त्रता प्राप्त है। फिर भी उनका जीवन दोहरी त्रासदी से भरा है। एक ओर वे बाहरी शक्तियों—जमीदारों, ठेकेदारों, वनविभाग अधिकारियों, पुलिस एवं सरकारी मिशनरी के शोषण की शिकार हैं तो दूसरी ओर अपने ही समुदाय के भीतर व्याप्त अन्धविश्वास, जादूटोना, पितृसत्तात्मक संरचना के दोहरे मापदण्डों के प्रति भी संघर्षरत हैं।

'हम यहाँ थे' उपन्यास में मधुजी ने आदिवासी महिलाओं के यथार्थ को अत्यन्त सूक्ष्मता से उजागर किया है। उपन्यास में कई ऐसे प्रसंग हैं जहाँ फुलवा, उषा, सुखिया, मंगला जैसी स्त्रियाँ हिंसा, उत्पीड़न एवं विस्थापन के बाद भी हार नहीं मानतीं। उनका प्रतिरोध केवल जंगल एवं जमीन की रक्षा तक ही सीमित नहीं है वरन् अपने अस्तित्व एवं सम्मान की रक्षा का भी संघर्ष है। प्रस्तुत उपन्यास में फुलवा के रूप में लेखिका ने एक ऐसी जुझारू स्त्री का चरित्र उकेरा है, जो अपनी अन्तिम साँस तक अपने अस्तित्व एवं जमीन के लिए प्रतिरोध करती है। लेखिका इन शब्दों में उसका चित्र खींचती है—''किसी रौद्र कविता-सी फुलवा वही स्त्री थी जो उन्हीं गाँवों में से एक गाँव बड़कागांव की थी जो वेंकटेश ग्रुप की परियोजना के बीच में पड़ रहे थे। सारी फसाद की जड़ ये फुलवा ही थी। क्योंकि कहीं जोर-जबरदस्ती, खून, हत्या और बलात्कार के डर से तो कहीं उधारी कर्जा के केस से दबे तो कहीं डिफाल्टर के चलते कोर्ट के वारण्ट से थरथराते.....कानून की पहुँच के बाहर खड़े अधिकांश गाँव वालों ने जमीन बेचने के कागजों पर हस्ताक्षर कर दिए थे.....वहीं दस एकड़ जमीन की मालकिन और हमेशा बीमार रहने वाली दमे की मरीज फुलवा अलग ही माटी की बनी थी।.....वह न सिर्फ खुद अड़ी रही अपनी जिद पर वरन् आस-पास वालों को भी समझाती रही कि वे भी न छोड़ें पुरखों के घर को।''[12]

उसको प्रतिरोध की कीमत अपनी जान देकर चुकानी पड़ती है। ''उसके खेत से उठाकर उसे मारकर उसकी लाश को माओवादियों की वर्दी पहनाकर नेतरहाट की पहाड़ियों के निचले

हिस्से में फेंक दिया गया था। आसपास की झाड़ियाँ उसके खून से रंगी हुई थीं। पास में ही एक पुरानी बन्दूक रख दी गयी.....सूरज की तरह चमकते सत्य पर माटी डाल दी गयी।''[13] लेखिका ने बहुत मार्मिकता के साथ व्यवस्था एवं सत्ता के सत्य को उद्घाटित किया है। फुलवा का प्रसंग दर्शाता है कि आदिवासियों में भूमि संघर्ष केवल आर्थिक मुद्दा नहीं है बल्कि सत्ता, हिंसा एवं दमन का जटिल ताना-बाना है जिसे विशेषकर स्त्रियों की आवाज दबाने के लिए झूठे आरोप के हथियार की तरह इस्तेमाल किया जाता है। फुलवा का अन्त यद्यपि त्रासदीपूर्ण है, पर वह प्रतिरोध की विरासत छोड़ जाती है, एक ऐसी विरासत जिसमें भय से अधिक साहस एवं हार से अधिक जागरूकता है।

5. अशिक्षा एवं आर्थिक शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध

प्रस्तुत उपन्यास में अशिक्षा एवं आर्थिक शोषण भी आदिवासियों की प्रमुख समस्या के रूप में चित्रित हुए हैं। इनके विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर भी पूरी ताकत से उभरता है। अशिक्षा केवल ज्ञान का अभाव नहीं बल्कि एक ऐसी सामाजिक स्थिति है जो अन्धविश्वास, कुप्रथाओं और शोषण को जन्म देती है। उपन्यास में अनेक प्रसंगों के माध्यम से लेखिका ने चित्रित किया है कि कैसे शिक्षा के अभाव में आदिवासी, विशेषकर महिलाएँ अन्धविश्वास का शिकार बनती हैं। उषा का प्रसंग इसका स्पष्ट उदाहरण है। हिसरी गाँव की निवासी उषा के पति लक्ष्मण मुण्डा को एक बरस पहले भालू उठाकर ले जाता है। इस हादसे में उसकी मृत्यु के पश्चात् पति के दोनों बड़े भाइयों की आँखों में वह खटकने लगती है और दोनों ओझा को पटाकर उसे डायन बताकर उसको मारने का षड्यन्त्र रचते हैं। लेखिका निम्नलिखित शब्दों में यह सत्य उजागर करती है—''हिसरी गाँव में कई बच्चे मलेरिया से मर गए। कुछ बुखार और फोड़ा-फुंसी से पीड़ित थे। दोनों भाइयों ने गुनी ओझा को पटाकर उससे कहलवा दिया कि उषा डाइन बिसात है इसलिए बच्चों की मौत हुई और बाकी की भी हो सकती है। यदि गाँव वाले अपने बच्चों की खैर चाहते हैं तो उन्हें इस डाइन को जान से मारना होगा इसका साया बच्चों के जीवन के लिए ठीक नहीं है।''[14]

उपन्यास की नायिका दीपशिखा जब इस घटना पर आश्चर्य करती है तो ख़ुशहालभारती के कार्यकर्त्ता विमल मुण्डा उसे समझाते हैं—''दरअसल जब तक अशिक्षा का अँधेरा है, हम लोग चाहकर भी बहुत कुछ नहीं कर पा रहे हैं। क्योंकि आज भी यहाँ गुनी ओझा और सूप-लोढ़ा का खेल चलता है।''[15] मधु जी ने बहुत ही कुशलता से यहाँ अज्ञानता के कारण उत्पन्न अन्धविश्वास और अनिष्ट के डर को रेखांकित किया है। यद्यपि जंगल कुमार के हस्तक्षेप से उषा की जान बच जाती है और उनके प्रगतिशील नेतृत्व में आदिवासी समझने लगते हैं कि शिक्षा ही अन्धविश्वास को समाप्त करने का प्रभावी हथियार है।

दूसरी ओर आदिवासी अर्थव्यवस्था पर बाजारवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है। बाजारी ताकतें आदिवासियों के श्रम एवं संसाधनों का दोहन करती हैं और उनसे उनके पारम्परिक रोजगार के साधनों को छीन लेती हैं। उपभोक्तावाद के उत्पादों ने किस प्रकार आदिवासियों की आजीविका पर प्रहार किया है, इसका मार्मिक प्रस्तुतीकरण आदिवासी अभिमन्यु के इन शब्दों से होता है—''ये रस्सी तो मैं अपने घरेलू काम के लिए बना रहा हूँ, अब बाजार में नहीं बिकती हमारी

रस्सी, अब प्लास्टिक की रस्सियों की माँग है। एक जमाना था जब रस्सी तो क्या हमारी ओखली की भी धूम थी बाजार में। अब तो हम खांटी मजदूर बन गए हैं।''[16]

दीपशिखा के यहाँ काम करने वाली आदिवासी महिला मंगला भी कथानायिका के समक्ष आजीविका छिनने के दर्द को इस प्रकार बयां करती है—''का बताएँ दीदी, हमारा लोहा और लोहे का सामान थोड़ा महंगा बनता था, बाजार में टाटा के लोहे का सस्ता सामान मिलने लग गया। तब लोगन क्यों खरीदेंगे हमारा सामान। सामान नहीं बिकता था। हमारे दादा ससुर ने सरकार से गुहार भी लगाई कि हमें थोड़ी सुविधा दे दीजिये, हम फिर से जी उठेंगे। ई टाटा बाटा ने हमारा ही ज्ञान चुराया है।''[17]

इस प्रकार मधुजी ने आदिवासियों पर उपभोक्तावाद के कुप्रभावों का यथार्थ चित्रण किया है। यही नहीं स्थानीय सूदखोरों द्वारा किए जा रहे आदिवासियों के आर्थिक शोषण पर भी लेखिका की दृष्टि पहुँची है। सूदखोर रतनसाहू को गाली देते हुए कार्तिक उरांव बताता है कि ''पूरे गाँव की जमीन ही हड़प बैठा था वो। थोड़ा सा कर्जा देता, चालीस टका ब्याज लेता और जमीन निगल लेता।''[18]

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'हम यहाँ थे' उपन्यास अशिक्षा एवं आर्थिक शोषण दोनों मोर्चों पर प्रतिरोध की आवश्यकता को स्पष्ट करता है। जंगल कुमार एवं दीपशिखा जैसे पात्र इन सभी समस्याओं के खिलाफ वैचारिक लड़ाई लड़ते हैं और आदिवासी समुदाय को संगठित करते हैं। उनके संगठन का ही प्रभाव होता है कि सूदखोर रतनसाहू से सबको मुक्ति मिलती है, जिसे लेखिका ने इन शब्दों में प्रकट किया है—''तीर-कमान लेकर निकले आदिवासी और आगे-आगे बाबा - आज या तो जमीन वापस लेंगे या तेरी जान लेंगे। गैरकानूनी ढंग से ली जमीन का गैरकानूनी ढंग से ही उद्धार हुआ। लंगोट खुल गयी साले की, भाग खड़ा हुआ तीर-कमान वाली फौज को देखकर।''[19]

6. माओवादियों के विरुद्ध प्रतिरोध

'हम यहाँ थे' में आदिवासी संघर्ष केवल राज्य, सत्ता या पूँजी वादी ताकतों के विरुद्ध नहीं है, वरन् उन सशस्त्र उग्रवादी समूहों के विरुद्ध भी है, जो स्वयं को उनका हितैषी बताकर अन्ततः उनके ही शोषक बन जाते हैं। नक्सलवादी अथवा माओवादी आन्दोलन का मूल दावा भले ही आदिवासियों के हक़ और अस्तित्व की रक्षा का हो, लेकिन प्रस्तुत उपन्यास यह उजागर करता है कि जमीनी हकीकत में ये समूह अक्सर आदिवासियों को हिंसा, भय और जबरन भर्ती के माध्यम से नियन्त्रण में रखते हैं।

लेखिका ने अत्यन्त कुशलता से इस सत्य को उदघाटित किया है कि कई आदिवासी अन्याय एवं उत्पीड़न से टूटकर नक्सलवादी रास्ता अपनाने को मजबूर हो जाते हैं। अरुण का प्रसंग इसका मार्मिक उदाहरण है। ''उसकी माँ को गाँव वालों ने डायन बताकर पत्थर मार-मारकर मार डाला था।.....दस वर्षीय अरुण माँ को तड़पते-तड़पते मरते देखता रहा, गुहार लगाता रहा पर कोई उसकी माँ को बचाने नहीं आया। बाद में माओवादियों ने उसकी माँ

पर हुए इस अन्याय का बदला लिया।.....बहरहाल बाद में पुलिस और गांव वालों के डर से, कृतज्ञता के भार से अरुण ने भी माओवादियों की शरण ले ली।''[20] उसका यह निर्णय प्रतिशोध की भावना से प्रेरित है, लेकिन अन्ततः उसको भी हिंसा के उसी चक्र में डाल देता है, जिससे वह मुक्त होना चाहता था।

क्रान्तिकारी आन्दोलन के नाम पर माओवादी संगठन आदिवासियों पर जबरन भर्ती का दबाब डालते हैं। उपन्यास में लेखिका ने कई प्रसंगों में सूक्ष्मता से उकेरा है कि आदिवासी बच्चों तक को जबरन हिंसक प्रशिक्षण के लिए जंगलों में ले जाया जाता है। एक उदाहरण दृष्टव्य है— उन्होंने रामविलास को फरमान सुनाया—''आपके छह बच्चे हैं, इसे हमें दे दीजिये, यह हमारे साथ रहेगा। हम इसे पढ़ा-लिखाकर आदमी बनाएँगे। नहीं तो लातेहार के बालूमाथ के तहत चिरांदी गाँव में अपने बच्चे नहीं सौंपने के चलते जिस प्रकार पाँच पिताओं की हत्या कर दी गयी थी, कुछ वैसे के लिए आप भी तैयार रहें।''[21] इस प्रकार की जबरदस्ती न केवल परिवार को तोड़ देती है वरन् बच्चे के भविष्य की सम्भावनाओं को भी नष्ट कर देती है। रामविलास का जंगलकुमार के पास आकर फूट-फूट कर रोना और अपने बच्चे को बचाने की गुहार लगाना यही सत्य उजागर करता है—''हमके बचाय ल बाबा! का करी केकर लगे जाई। बबुआ कैसे दई देई जालिमों के? पुलिस त कुछ करे न, आप ही कुछ करय बाबा!''[22]

लेखिका ने बखूबी चित्रित किया है कि माओवादी प्रभाव को तोड़ने के लिए केवल व्यक्तिगत साहस पर्याप्त नहीं है, इसके लिए पूरे समुदाय को जागरूक और संगठित होना जरूरी है। जंगल कुमार आदिवासियों को तो संगठित करते ही हैं, माओवादियों को भी स्पष्ट चेतावनी देते हैं, पर माओवादी उनकी ही जान की दुश्मन बन जाते हैं।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि मधु कांकरिया का उपन्यास 'हम यहाँ थे' आदिवासी जीवन की अस्मिता, संघर्ष एवं प्रतिरोध की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। लेखिका ने आदिवासी जीवन के विविध आयामों जैसे—भूमि एवं जंगल से बेदखली, विस्थापन एवं पहचान का संकट, अशिक्षा एवं आर्थिक शोषण, स्त्री की दोहरी त्रासदी, सांस्कृतिक अस्मिता का संकट एवं माओवादी हिंसा आदि सभी बिन्दुओं को बहुआयामी दृष्टि से प्रस्तुत किया है। इन सभी का संयुक्त अध्ययन हमें इस निष्कर्ष तक पहुँचाता है कि आदिवासी विमर्श का मूल स्वर प्रतिरोध है, जो केवल अस्तित्व की रक्षा तक सीमित नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक अस्मिता, सामाजिक गरिमा और भविष्य की सम्भावनाओं की रक्षा का भी संघर्ष है।

उपन्यास यह भी उजागर करता है कि शोषण केवल बाहरी नहीं,वरन् आन्तरिक भी है। अशिक्षा, अन्धविश्वास, सामाजिक पिछड़ापन आदिवासिओं को भीतर से कमजोर करते हैं। स्त्रियों को डायन घोषित कर दण्डित करने की अमानवीय प्रथा इसका उदाहरण है, परन्तु दीपशिखा और फुलवा जैसी स्त्रियाँ इस अन्याय के विरुद्ध चेतना की मशाल जलाती हैं। माओवादी आन्दोलनों के प्रसंग इस सत्य को बखूबी उजागर करते हैं कि जब संघर्ष हिंसक हो उठता है, तो वह अपने ही मूल उद्देश्य से भटक जाता है। इस हिंसा के बीच भी आदिवासी समुदाय का वास्तविक प्रतिरोध शिक्षा, संगठन और सांस्कृतिक चेतना में निहित है।

प्रस्तुत उपन्यास यह स्पष्ट और सशक्त सन्देश देता है कि आदिवासी समाज को मुक्ति अपनी आन्तरिक एकता, परम्परा और संस्कृति की पुनर्स्थापना से ही मिलेगी। यह कृति हाशिये की आवाज को केन्द्र में लाने वाली ऐसी ऐतिहासिक उपलब्धि है जो पाठक को यह सोचने पर विवश करती है कि—''हम यहाँ थे, हम हैं और हम रहेंगे''—यह घोषणा केवल अस्तित्व की नहीं, बल्कि प्रतिरोध की भी है।

सन्दर्भ-सूची

1. गंगा सहाय मीणा, **आदिवासी और हिन्दी उपन्यास**, नई दिल्लीः अनन्या प्रकाशन, 2016, पृ0सं0 65.
2. मधु कांकरिया, **हम यहाँ थे**, नई दिल्लीः किताबघर प्रकाशन, 2018, पृ0सं0 278.
3. वही, पृ0सं0 157.
4. वही, पृ0सं0 267.
5. वही, पृ0सं0 157.
6. वही, पृ0सं0 238.
7. वही, पृ0सं0 238.
8. वही, पृ0सं0 276-277.
9. डॉ0 जनक सिंह, डॉ0 कुलदीप सिंह मीणा, **भारत के आदिवासीः चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ**, नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2017, पृ0सं0 191.
10. मधु कांकरिया, **हम यहाँ थे**, नई दिल्लीः किताबघर प्रकाशन, 2018, पृ0सं0 278.
11. वही, पृ0सं0 281.
12. वही, पृ0सं0 281-282.
13. वही, पृ0सं0 281.
14. वही, पृ0सं0 163.
15. वही, पृ0सं0 163.
16. वही, पृ0सं0 178.
17. वही, पृ0सं0 192.
18. वही, पृ0सं0 187.
19. वही, पृ0सं0 187.
20. वही, पृ0सं0 236.
21. वही, पृ0सं0 236.
22. वही, पृ0सं0 236.

★

https://doi.org/10.62047/JNDH.2025.10.31.25